

स्कूली शिक्षा और सामाजिक अनुभव

□ राजाराम भादू

दुनिया के महत्वपूर्ण शिक्षाविद् इस विचार से सहमत हैं कि शिक्षा-प्रक्रिया बच्चे के पूर्व-अर्जित ज्ञान के धरातल पर सक्रिय होती है। बच्चे की पूर्व-जानकारियों, अनुभवों और कल्पना से जोड़कर ही नयी जानकारियों और अवधारणाओं से उसे परिचित कराया जाता है। अपने आस-पास के परिवेश और संबंधों के बारे में बच्चा अपने शैशव से ही अवगत होने लगता है। इसलिए कहा गया है कि बच्चे का पहला शिक्षक उसकी मां होती है और उसकी पहली पाठशाला उसका परिवार। सैद्धांतिक रूप से शिक्षा का सर्वमान्य प्रकार्य बच्चे का समाजीकरण करना है। इस मान्यता में ही यह तथ्य अन्तर्निहित प्रतीत होता है कि सामाजिकता अपने आप में ऐसा प्रत्यय है जो परिवार का अतिक्रमण करता है। परिवार की अपनी ज्ञान संपदा और सांस्कृतिक पूंजी होती है जिसका पीढ़ीगत हस्तांतरण होता रहता है। और इस दौरान यह समृद्ध होती रहती है अथवा इसमें ह्रास होना भी संभव है। इसका ज्यादा दारोमदार समाज में परिवार विशेष की अवस्थिति और खुद परिवार की अपनी मूल्य-मान्यताओं पर है।

लेकिन समाज का ज्ञान-आधार और सांस्कृतिक क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक और विविध-स्तरीय है। साथ ही, इसकी दिशा सामान्यतः विकासमान और ऊर्ध्वगामी होती है। इतिहास में उन्नत समाजों का सांस्कृतिक पतन भी देखा गया है लेकिन ऐसे प्रसंगों की संख्या इतनी न्यून है कि इन्हें अपवादों की संज्ञा दी जा सकती है। शिक्षा के समाजीकरण का अर्थ सामान्यतः समाज की सांस्कृतिक पूंजी के नई पीढ़ी को हस्तान्तरण से लिया जाता है। इस प्रक्रिया में बच्चा समाज की ज्ञानात्मक और संस्कृति मूलक विरासत का उत्तराधिकारी बन जाता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह प्रक्रिया इस प्रकार घटती है कि बच्चा या तो पहले से प्राप्त जानकारियों में नई जानकारियों को जोड़ता चलता है। अथवा वह अपनी कुछ पूर्व-धारणाओं को बदलता है और नई दृष्टि और मान्यताएं निर्मित करता है।

हम जानते हैं कि संस्कृति एक उपलब्धि के साथ-साथ एक प्रक्रिया भी है। इस प्रकार किसी वस्तु के उत्पाद की तरह ज्ञान भी स्थिर घटक नहीं है। भाषा भी सतत प्रवाह-मान संवृत्ति है। यह समूची प्रक्रिया अपनी मूल प्रकृति में ही सृजनात्मक है। अर्थात् कुछ क्षरित होता रहता है और बाकी बहुत सारा नव-निर्मित होता रहता है। समाजीकरण को यदि व्यापक और सही संदर्भ में देखें तो शिक्षा का प्रकार्य नई पीढ़ी को इस ज्ञानात्मक और सांस्कृतिक सृजनशीलता से समर्थ बनाना होगा। ऐसी स्थिति में, शिक्षा का एक पूर्व कार्यभार यह होगा कि वह समाज की अब तक की सांस्कृतिक संपदा के प्रति बच्चे में आलोचनात्मक विवेक उत्पन्न करे।

हम सब जानते हैं कि दुनिया का कोई स्कूल बच्चे को 24 घंटे कक्षा के कमरे में नहीं रख सकता। आवासीय स्कूल भी बच्चे को कक्षा-अध्ययन से अधिकांश समय मुक्त रखते हैं। तब बच्चा अपने साथियों के साहचर्य में रहता है। यद्यपि बहुत से शिक्षाविद् आवासीय विद्यालयों का इसलिए समर्थन नहीं करते कि ये बच्चों को समाज के जीवन्त संपर्क से काट देते हैं और इस तरह उनके समाजीकरण की प्रक्रिया को बाधित करते हैं। खैर, हम कह यह रहे थे कि बच्चा

कुल समय में से स्कूल में एक तिहाई समय ही गुजारता है जबकि वह दो -तिहाई समय घर पर गुजारता है, जहां उसकी घर-परिवार के सदस्यों और छोटे -बड़े साथी बच्चों के साथ अन्तःक्रिया होती है । आज गांव-शहरों के अधिकांश घरों में टी.वी. है जिसके जरिये बच्चे देश-दुनिया के बारे में आधी-अधूरी जानकारी हासिल कर रहे हैं । जिन बच्चों के घरों में टी. वी. नहीं हैं, वे सामाजिक यथार्थ के कटु किन्तु ठोस अनुभव प्राप्त कर रहे हैं । कहना यह है कि बच्चा स्कूल से कहीं अधिक अनुभव और जानकारियां अपने सामाजिक और सांस्कृतिक 'यूनीवर्स' से प्राप्त कर रहा है ।

अब देखना यह है कि क्या हमारे स्कूल बच्चे के अन्यत्र अर्जित अनुभवों और ज्ञान को शिक्षा की प्रक्रिया से संबद्ध कर पा रहे हैं ? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में सामान्यतः निराशा ही हमारे हाथ लगती है । हमारी कथित मुख्यधारा (सरकारी) शिक्षा प्रणाली तो बच्चे के प्रत्यक्ष सामाजिक जगत से स्कूली ज्ञान और सूचनाओं को या तो संबद्ध ही नहीं करती अथवा इससे यांत्रिक संबद्धता का प्रयास करती है । उनके यहां पूर्व-निर्धारित पाठ्यक्रम को बच्चे की स्मृति में डालकर पुनः उगलवाने भर का दायित्व है । स्कूली-तंत्र के निजी क्षेत्र में अन्तर इतना है कि वे सूचना और ज्ञान को अधिक मात्रा में, अंग्रेजी भाषा में तथा ज्यादा 'सोफिस्टीकेटेड' तरीके से बच्चे में 'फीड' करते हैं । इन शालाओं के अवलोकनों में हम पायेंगे कि जैसे ही बच्चा किसी पुस्तकीय सूचना या अवधारणा को वस्तु जगत से जोड़ने का प्रयास करेगा, उसे चुप करा दिया जायेगा और उसके इस प्रयास को अवान्तर प्रसंग ठहराया जायेगा । बच्चे तो बच्चे, शिक्षकों के लिए भी स्कूल से बाह्य-जगत की चर्चा कक्षा में करना सामान्यतः निषिद्ध है । स्कूली शिक्षा और सामाजिक अनुभव के मध्य यह खाई हमारी शिक्षा-व्यवस्था की एक बड़ी कमजोरी है । हम देख रहे हैं कि यह न केवल शिक्षा के ध्येय को विचलित कर रही है बल्कि शिक्षण-प्रक्रिया की प्रकृति के भी विरुद्ध है ।

हमने पीछे समाज की बात की, तब हमारे ध्यान में एक विशिष्ट समाज था । लेकिन समाज की परिभाषा को लेकर आज समाज-शास्त्रियों के बीच तीव्र मतभेद हैं । चूंकि वर्तमान में कोई समाज अकेला और अन्य समाजों से अलहदा नहीं है । यदि हम 'समाज' को 'सामाजिक समूह' के अर्थ में घटा दें तो भी इस समूह को दूसरे मानव-समूह से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता । आज दुनिया के आदिवासी कबीले भी ज्ञान की वैश्विक-धारा और पारस्परिक सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं से अक्षुण्य नहीं रह पा रहे हैं । किसी सामाजिक समूह की अपनी ज्ञान - संपदा व संस्कृति का अपना महत्व है , उसकी अपनी पहचान और अस्मिता हो सकती है लेकिन वह दूसरे सामाजिक समूह की सभ्यता - संस्कृति से अलगाव में नहीं रह सकता । यह समूह की स्वायत्त सापेक्षता और सांस्कृतिक बहुलवाद का समय है । हमारा अनुभव है कि बच्चे परिदृश्य के इन परिवर्तनों को अपनी तरह पढ़ रहे हैं और इन पर प्रतिक्रिया कर रहे हैं । वे आपस में इन चीजों पर जीवंत संवाद करते हैं । लेकिन इस विमर्श के लिए हमारे स्कूलों में स्थान और अवसर नहीं है । यदि हम फिर से शिक्षा का मंतव्य बच्चे के समाजीकरण से लगायें तो 'समाज' को नये सिरे से परिभाषित करना पड़ेगा, तब इसकी सांस्कृतिक पूंजी भी कुछ भिन्न होगी और उसके अभिनवीकरण के लिए बच्चों को तैयार करने की चुनौती भी कहीं और गंभीर हो जायेगी । ◆